

## ‘सीखने संबंधी मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का संक्षिप्त इतिहास’ पर प्रो. कृष्ण कुमार की टिप्पणी

ब्रूनर के इस लेख का हिंदी में प्रकाशन दो कारणों से महत्वपूर्ण ठहरता है। पहला कारण है इस लेख का गठन और विस्तार। भारत में हमें पश्चिम देशों में विकसित ज्ञान परंपरा प्रायः टुकड़ों में जानने को मिलती है। हमारे विद्यार्थी ऐसा अवसर कभी-कभार या संयोग से ही पाते हैं जब वे टुकड़ों की जगह किसी विषय के ज्ञान को उसके अपने विकास क्रम में देख सकें। होता प्रायः यह है कि वे एक या दो टुकड़ों को पकड़कर बैठ जाते हैं और उनका पूरा जीवन उस टुकड़े को दोहराते, दूसरों को बताते रहने में बीतता है। किसने किस टुकड़े को जाना, यह प्रायः इस बात पर निर्भर होता है कि वह कब परिचय में रहा, पढ़ा या वह वहां के किस विशेषज्ञ या संस्थान के संपर्क में है। हम कभी ऐसी स्थिति में नहीं आ पाते जिसमें पश्चिमी देशों में विकसित शोधपरक ज्ञान को समग्र रूप में देख और समझ सकें। इससे भी ज्यादा दुर्लभ यह बात रहती है कि हम ज्ञान को शोध की विकासशील धारा के तात्कालिक परिणाम की तरह देख सकें, सत्य की तरह नहीं।

इन सीमाओं के रहते हमारे अध्यापक और विद्यार्थी किसी अवधारणा या समस्या को वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में नहीं रख पाते। सीखने की अवधारणा इस सीमा का एक अच्छा उदाहरण पेश करती है। शिक्षा के क्षेत्र में इस अवधारणा को लेकर जैसी नारेबाजी और खेमेबाजी भारत में दिखाई देती है, वह निश्चय ही शिक्षा नीति, शिक्षकों के प्रशिक्षण और पाठ्यचर्या के विकास में एक बड़ी बाधा की तरह देखी जा सकती है। ब्रूनर का यह आलेख इस बाधा को दूर करने में मददगार सिद्ध हो सकता है। इसे पढ़कर हम शिक्षा और मनोविज्ञान के एक बड़े अन्वेषक और मीमांसाकार की दृष्टि से सीखने की अवधारणा का दिग्भ्रम और उसको लेकर आज उपलब्ध समय की सीमाएं समाप्त पाते हैं।

दूसरे जिस संदर्भ में इस लेख का हिन्दी में आना महत्वपूर्ण है, वह हिन्दी में शिक्षा विज्ञान की शब्दावली से संबंधित है। सीखने के लिए ‘अधिगम’ शब्द का प्रयोग अब इतना धड़ल्ले से होने लगा है कि उसकी समीक्षा की जरूरत समाप्त हो गई लगती है। अधिगम की व्युत्पत्ति करें तो यह साफ हो जाएगा कि सीखने की अवधारणा में निहित वैविध्य अधिगम से व्यंजित नहीं हो सकता। इसके अलावा इस शब्द की कोई लोकव्याप्ति नहीं है, न समझ में; न शिक्षा के अपने जगत में। ब्रूनर के लेख के अनुवादक को शब्दचयन की ऐसी अनेक चुनौतियां महसूस हुई होंगी। सीखने की प्रक्रिया और उसके अनुभव को समझने के प्रयास में उपजे वैज्ञानिक चौखटे भी अनुवाद की भारी समस्या पैदा करते हैं। इन शब्दों और उनसे जुड़ी अवधारणा को इतिहास क्रम में रखने के अलावा हमें इनका पुनसृजन अपनी भाषा में करने का मौका भी यह लेख देता है। ब्रूनर की यह बात भी हमें आश्चर्य करती है कि बच्चों के सीखने के संदर्भ में विकसित होते हुए शोध का स्कूल के जीवन और पाठ्यचर्या पर निर्णायक प्रभाव पड़ना संभव है। उदाहरण के लिए, ‘व्यवहारवाद’ को हम कितना ही वैज्ञानिक मानें, उससे ‘व्यवहारिकता’ की सुगंध नहीं हटाई जा सकती और शायद यही इस विचारधारा की भारत में बनी हुई लोकप्रियता के रहस्य का एक बड़ा कारण है। इधर के वर्षों में ‘रचनावाद’ की चर्चा ने जोर पकड़ा है। ब्रूनर के लेख से पाठक इससे जुड़ी सोच की गहराई में जाकर तय कर सकेंगे कि यह भी व्यवहारवाद की तरह एक विचारधारा है या सीखने और बालमानस को समझने के क्रम में एक ज्यादा बड़ा वैज्ञानिक पड़ाव है।

# सीखने संबंधी मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का संक्षिप्त इतिहास

जेरोम ब्रूनर

## लेखक परिचय

अमेरिका के जाने-माने शिक्षा मनोविज्ञानी।  
न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे। संस्कृति  
एवं मनस् की अन्तःक्रिया पर विस्तार से  
लिखा है।

**सी**खने के संबंध में इतने शोध हो जाने के बावजूद यह विषय  
भ्रामक बना हुआ है। हम सीखने से क्या अर्थ निकालते हैं, यह  
निश्चय ही काफी हद तक इस बात से तय होता है कि इसका  
अध्ययन किस तरह से करने की सोचते हैं। कॉलेज के विद्यार्थी  
कैसे निरर्थक शब्दांशों को याद कर लेते हैं, इसका अध्ययन करने  
की बजाय अगर इस पर शोध किया जाता है कि बच्चे अपनी मूल  
भाषा पर पकड़ कैसे बनाते हैं; तो आप सीखने के संबंध में एक  
भिन्न अवधारणा पर पहुंचते हैं। क्या हारमोनियम पर उंगलियां  
चलाना सीखने में या एक भूल-भुलैया पहेली में उंगली से रास्ता  
खोजने में एक ही तरह की प्रक्रियाएं शामिल होती हैं? क्या सभी  
तरह का सीखना एक समान होता है जिसे कुछ गिने-चुने नियमों  
के एक समुच्चय में व्यक्त किया जा सकता है?

सीखने के दो कामों को एक समान कहा जा सकता है। अगर  
किसी एक के सीखने से दूसरा अपने आप सुगम बन जाए, इसे  
तब्दीली का आधार कहते हैं। एक को सीखने से दूसरा काम जब  
स्वतः आ जाता है तो सीखी गई किस चीज की तब्दीली होती है:  
प्रतिक्रियाओं की? नियमों की? या हम सीखना सीख लेते हैं जैसे  
कि पर्याप्त अभ्यास से हम परीक्षा या टैक्स के फार्म भरने में  
होशियार हो जाते हैं। हम परिस्थिति को समझना कैसे सीखते हैं?  
हम अपना ध्यान केंद्रित करना कैसे सीखते हैं?

इसके अलावा यह सवाल भी उठाया जाता है कि सीखना कितने  
भिन्न-भिन्न तरह से संभव होता है? क्या सभी प्रजातियां एक ही  
तरह से सीखती हैं? क्या होशियार व मंदबुद्धि एक ही तरह से  
सीखते हैं? बाहरी तौर पर दिए गए इनाम, प्रोत्साहन व दंड का  
क्या? क्या सीखने की सभी परिस्थितियां परस्पर तुलनीय  
होती हैं?

मैं अक्सर एक काम करता था कि हाल ही में संपन्न हुए प्रयोगों  
में से उन चूहों को अपनी बेटी को दे देता था जिनका प्रदर्शन  
बहुत अच्छे स्तर का रहा हो। मैंने पाया कि बेटी की बहुत अच्छी  
देखभाल में रहकर उन चूहों में ज्यादा व्यापक जिज्ञासा विकसित  
हो जाती थी। आखिर, पशुओं का पालतू होना उनकी सीखने की  
प्रवृत्ति पर क्या असर डालता है? क्या वोल्फगैंग कोहलर के प्यारे  
चिंपाजियों ने सभी तरह की अंतर्दृष्टियां हासिल की थीं। जैसे कि  
अपनी पहुंच से दूर रखे केलों को पाने के लिए दो छड़ियों को

जोड़कर उन्हें खींचने का तरीका ढूँढ़ लेना, या यह क्षमता केवल इस बात का नतीजा थी कि वे इत्मीनान से जर्मनी के टेनेरिफ द्वीप पर पल रहे थे।<sup>1</sup> अक्सर मजाक में यह कहा जाता था कि येल विश्वविद्यालय का उत्प्रेरणा-प्रतिक्रिया-सुदृढीकरण सीखने का सिद्धांत (stimulus-response-reinforcement learning theory) कैलीफोर्निया के संज्ञानात्मक सिद्धांत (cognitive theory) से भिन्न था क्योंकि न्यू हैवन में क्लार्क हल ने अपने विद्यार्थियों को यह सिखाया था कि चूहों को क्या जानना चाहिए जबकि बर्कले में एडवर्ड टोलमैन ने सिखाया था कि चूहों को भूल-भूलैया में चुने हुए बिंदुओं पर ठहर कर सोचने के लिए पर्याप्त समय मिलना चाहिए।

अंततः क्या हम केवल सीखने के लिए सीखते हैं या हमें कोई बाहरी प्रेरणा सीखने की तरफ धकेलती है? दूसरे बिंदु को मानें तो यर्केंस-डोडसन सिद्धांत हमें बताता है कि बहुत अधिक या बहुत कम प्रोत्साहन, दोनों ही सीखने के स्तर में कमी ला देते हैं। मैंने इसे खुद आजमाकर देखा और चकित रह गया। मैंने पाया कि दोनों तरह के चूहों, जो ज्यादा भूखे थे या सामान्य रूप से भूखे थे, ने एक के बाद एक लगे दरवाजों में से जाने का रास्ता ढूँढ़ लिया था। सही रास्ता दो तरह से चिह्नित किया गया था। चूहों के पास विकल्प थे कि दाये-बांये रास्ता चुनें या फिर हरेक चुनाव बिंदु पर गहरे रंग के दरवाजे को चुनें। ज्यादा भूखे चूहे केवल एक ही संकेत पर ध्यान दे पाए जबकि सामान्य रूप से भूखे चूहों ने दोनों विकल्पों को पहचाना और चुना था। मेरी बेटी के पालतू चूहों की तरह उन चूहों में ज्यादा जिज्ञासा थी जो कम भूखे थे।

इन सबसे स्वाभाविक हो जाता है कि वैज्ञानिक किसी भी तरह से इस बात का सरलीकरण करना चाहेंगे कि सीखने का अध्ययन करने से हमारा क्या तात्पर्य है। और निश्चित ही ऐसा करने का आदर्श तरीका है एक दृष्टांत (पैराडाइम) पर सहमति जिससे कि परिणामों की तुलना संभव हो जाएगी। बिल्कुल यही सीखने से संबंधित शोध के शुरुआती दौर में हुआ था। किंतु जैसा कि अक्सर होता है कि प्रतिद्वंद्वी दृष्टांत उभर आए और आह! यह शोध शीघ्र ही भविष्य के युद्ध में तब्दील हो गया। असल में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर दूसरे विश्वयुद्ध के एक दशक बाद तक मनोवैज्ञानिक शोध के परिदृश्य पर सीखने संबंधी सिद्धांतों के बीच ऐसा युद्ध चलता रहा जिसमें विभिन्न 'मत' चतुराई से यह प्रदर्शित करने के लिए प्रयोग कर रहे थे कि उनका दृष्टांत प्रतिद्वंद्वी दृष्टांतों से किस तरह बेहतर था और दूसरे किस तरह कमतर थे।

शुरुआत से ही अपनी-अपनी असंगतियों के साथ दो प्रतिद्वंद्वी थे। पहले दृष्टांत में एक किस्म का आणविक संयोजनवाद (molecular associationism) था जो उन्नीसवीं सदी की भौतिकी के परमाणुवाद (atomism) का लाक्षणिक विस्तार था। सीखने के सिद्धांत में परमाणुवाद की छाया में यह धारणा शामिल थी कि सीखने में एक तरह से धारणाओं, स्मृतियों, संवेदनाओं आदि का संयोजन (association) होता है। इसके केन्द्र में संयोजनात्मक जुड़ाव है यानी एक ऐसी कड़ी जो किन्हीं दो संवेदनाओं या विचारों के एक साथ घटित होने अथवा उनके बीच की स्थानिक निकटता के कारण विकसित होता है। यद्यपि संयोजनवाद (associationism) का उद्गम बहुत प्राचीन है। इसके हाल के दार्शनिक समर्थक भी हैं; अरस्तु, लॉक, बर्कले, ह्यूम एवं मिल्स। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक दार्शनिक मनोवैज्ञानिक जॉन फेड्रिक हरबार्ट ने संयोजनात्मक कड़ियों को नए मनोविज्ञान में मील का पत्थर घोषित कर दिया था।

इस दृष्टांत को नए उभरते हुए विषय मस्तिष्क विज्ञान से भी समर्थन मिला, भले ही वह सीधा नहीं था। जैसे ही उन्नीसवीं सदी ने अपने आखिरी चतुर्थांश में प्रवेश किया, गॉल व स्पूरजहाइम के समय का पुराना मस्तिष्क विज्ञान नए खोजे गए प्रमस्तिष्क वल्कुट (सेरेब्रल कॉर्टेक्स) में विद्यमान केन्द्रों के रूप में फिर से परिभाषित हो गया। इस समझ में मस्तिष्क के ये केन्द्र किसी खास काम के लिए नियत थे। शायद इस संबंध में सबसे दमदार अध्ययन 1870 में जर्मनी के मनोवैज्ञानिकों फ्रिच व हिटजिह का था। उनके अध्ययन में प्रमस्तिष्क के मध्य व पिछले हिस्से में मौजूद विभिन्न केन्द्रों को दिए गए विद्युतीय उत्प्रेरणों के फलस्वरूप काफी सटीक प्रतिक्रियाएं प्राप्त हुईं। किसी एक केन्द्र

को उत्प्रेरित करने पर बंदर की बांह में मरोड़ होने से वहां उभार आ गया। दूसरे केन्द्र को उत्प्रेरित करने पर उसकी आंखें ऊपर की ओर घूम गईं। इसी तरह किसी अन्य केन्द्र को उत्प्रेरित करने पर वे नीचे की ओर घूम गईं।<sup>12</sup> मनोवैज्ञानिकों ने सोचा कि अगर मस्तिष्क को इस तरह के केन्द्रों के रूप में चिह्नित किया जा सकता है तो दिमाग को क्यों नहीं? यहां यह याद रखने की जरूरत है कि इन विद्वानों के बीच प्रचलित दार्शनिक नजरिया मनो-भौतिकी समानान्तरवाद (psychophysical parallelism) का था जिसके तहत मस्तिष्क और दिमाग समानान्तर तरीके से चलते हैं।

उनके आलोचकों ने कण विन्यासवाद (molar configurationism) संबंधी मॉडल पर विजय पाई। इस दृष्टांत का मुख्य तर्क यह था कि दिमाग व मस्तिष्क दोनों ही अपने भागों के संचालन को नियंत्रित करते हुए अभिन्न तंत्रों की तरह काम करते हैं। अपने प्रतिद्वंद्वी की तरह इस दृष्टांत ने भी मस्तिष्क प्रक्रिया विज्ञान को आधार बनाया और इस बात के लिए पहले से ही बहुत सारे प्रमाण दिए जा चुके थे कि समग्र प्रमस्तिष्कीय प्रक्रियाएं छोटे केन्द्रों को नियंत्रित करती हैं।

मस्तिष्क की व्यापक क्रियाओं को दैनिक जीवन की इस बात के समानान्तर रखकर समझाया जा रहा था कि अनुभव अपने छोटे-छोटे अंशों से ऊपर उठ जाते हैं जैसे कि एक शहरी दृश्य टैक्सी व पैदल चलने वालों का समूह भर नहीं होता। वह तो विभिन्न घटकों की विशेषताओं से आकार लेता है। गिस्टौलट मनोविज्ञान निश्चित ही इस दृष्टिकोण की सबसे प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति थी जिसमें सीखने को लेकर यह मत था कि वह स्थानीय कड़ियों के कारण संभव न होकर व्यापक स्तर की व्यवस्था होती है।

आइए, अब संयोजनात्मक दृष्टांत के उत्थान पर विचार करें। उन्नीसवीं सदी के आखिरी 25 वर्ष सीखने संबंधी अध्ययनों में नए शोधों के वर्ष थे जिनमें ज्यादातर संबंधित शब्दों की सूची अथवा शब्दों के जोड़े याद कर लेने पर थे। किन्तु वह मुख्यतः निरर्थक शब्दांश थे जिन्होंने संयोजनात्मक दृष्टांत को उनकी वैज्ञानिक रंगत दी। हरमन एबिंगहौस ने निरर्थक शब्दांशों का उपयोग करके सीखने की व्याख्याओं में से पुराने अनुभवों व अर्थ निकालने की क्षमता को निरर्थक साबित कर दिया था। एबिंगहौस की 1885 की *यूबेर डस गेडेशलिंस* निरर्थक शब्दांशों की सूची उबाऊ है। उदाहरण के लिए, उसकी यह खोज कि सूची के मध्य में आए निरर्थक शब्दांश आरंभ व अंत में आए शब्दांशों की बनिस्वत ज्यादा धीमी गति से सीखे जाते हैं और शुरू में आए शब्दों को बहुत ही आसानी से पुनर्उत्पादित किया जा सकता है।<sup>13</sup>

किन्तु संयोजन चाहे निरर्थक शब्दांशों के बीच का ही हो उस समय की वैज्ञानिक अभिरुचि के मद्देनजर बहुत ही कमजोर नजर आने लगा था। अतः सदी का अंत आते-आते इसका स्थान पावलोव की वैज्ञानिक रूप से ठोस प्रतिबंधित प्रतिक्रिया (conditioned reflex) ने ले लिया। पावलोव के दृष्टांत ने संयोजनवाद को एक मूर्त रूप दिया जिसमें संयोजन का सार बना रहा और सीखना मापने लायक बन गया। उसके दृष्टांत में मात्र उत्प्रेरण व प्रतिक्रिया के बीच संबंध को स्थापित करने की जरूरत थी: कभी भोजन के कारण पैदा हुई लार टपकने की प्रतिक्रिया अब केवल सांकेतिक घंटी के कारण हो रही थी। शरीरक्रिया विज्ञान में पावलोव को मिला नोबेल पुरस्कार जैसे भौतिकवाद की विजय थी किन्तु पावलोव खुद पूर्णतया खुश नहीं थे। इस बारे में हम आगे चर्चा करेंगे।

अब विन्यासवाद पर आते हैं, जिसका समर्थन करने वाले मनोवैज्ञानिकों की भी कमी नहीं थी। वे संयोजनवाद की अमूर्तता एवं सामान्य अनुभवों से दूरी को लेकर आशंकित थे। विन्यासवाद को मस्तिष्क संबंधी शोधों का समर्थन भी हासिल था जिसमें फ्लारेंस का समग्रतामूलक तंत्रिका विज्ञान (holistic neurology) काफी प्रचलित था। सदी के अंत के सालों में यह रुचि अपने उठान पर थी कि भाषा और संस्कृति कैसे सोच को आकार देती हैं। समाजशास्त्र जैसे विषय में एमील दुर्खाइम व मैक्स वैबर जैसे विद्वान इस बात को जोर-शोर से कह रहे थे कि संस्कृति भी दिमाग को गढ़ती है केवल भौतिक संसार के अनुभव ही उसे रूप नहीं देते हैं।

गिस्टौलट का सिद्धांत विन्यासवाद के शुरुआती वर्षों में सबसे उत्कृष्ट उदाहरण था हालांकि इसने अपना चरम प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही पाया। इसका मूल मंत्र था कि शारीरिक, जैविक व मानसिक तंत्र में अन्तर्निहित विशेषताएं अपने अवयवों को नियंत्रित करके रखती हैं। भौतिकी का क्षेत्र सिद्धांत इसका आधार था और उसका उद्घोषित कथन था, “समग्र अंशों के योग से बड़ा होता है”। इसे गिस्टौलट के अनुयायियों ने मानवीय बोध पर अपने चतुर अध्ययनों की धारा से पुष्ट किया। टेनेरिफ द्वीप पर किया गया कोहलर का चिंपांजी प्रयोग सीखने के बारे में इसी इरादे से किया गया था। चिंपांजी केवल संयोजन के बारे में सोच के दो छड़ियों को उठाने का औजार नहीं बना सकते थे। वह तो अंतर्दृष्टि से ही हो सकता था जिसमें की पूरी परिस्थिति का विन्यास बनता है।

कोहलर को पूरी प्रकृति में विन्यासवाद की व्यापकता में गहरा विश्वास था। संयोजनवाद पर उसने पहला बड़ा आक्रमण इस बात का तर्क देते हुए किया कि परमाणुवाद (atomism) अपर्याप्त है। यह तर्क *ऑन फिजिकल कॉन्फिगरेशन्स एट रैस्ट एंड इन स्टेशनरी स्टेट्स* शीर्षक से छपी किताब में दिया था। कोहलर ने सवाल उठाया कि अगर परमाणुवाद भौतिकी में ही अपर्याप्त था तो यह मनोविज्ञान में दृष्टांत के तौर पर कैसे काम आ सकता था?⁴

उसने समरूपता बनाते हुए दृश्य संबंधी बोध का इस्तेमाल किया जो बात को पूरी तरह स्पष्ट कर देता है: जब पास-पास स्थित प्रकाश के दो स्रोतों से बहुत कम समय के लिए एक के बाद दूसरे से रोशनी डाली जाती है तो आंख शुद्ध रूप से प्रकाश का बोध करती है न कि प्रकाश स्रोतों से हलचल का। इसका मतलब समग्र अपने अंशों के जोड़ से निश्चित ही अलग है।

कुछ ऐसा हुआ कि पावलोव खुद भाषा संबंधी विन्यासवाद के पक्षधर हो गए। प्रतिबंधित प्रतिक्रियाएं भाषा जैसी क्रमिक घटना के संदर्भ में कैसे प्रासंगिक हो सकती हैं? उत्प्रेरण किस तरह से व्याख्यायित होते हैं और इसका भाषा पर क्या असर होता है? मनुष्यों के संदर्भ में कोई अनुकूलित व्यवहार उत्प्रेरण बिना भी कैसे बदल जाता है? अपने जीवन के बाद के वर्षों में इस तरह के प्रश्नों से परेशान होकर पावलोव ने एक दूसरा संकेत तंत्र पेश किया। इस तंत्र में उत्प्रेरण भौतिक चीजों की जगह संकेतों व श्रेणियों से युक्त भाषा थी। इस रीति से भाषिक पर्यायवाचिकता ने उत्प्रेरण को एक सामान्य अनुकूलन की स्थिति में भी प्रभावित किया।

कुछ लोग कहते हैं कि पावलोव का नया दृष्टिकोण ग्राम्शी के अपरिपक्व विचारों से प्रभावित साम्यवादी विचारकों के कारण विकसित हुआ। किन्तु उसका दूसरा संकेत तंत्र मानवीय अध्ययन की यूरोपीय परंपरा के साथ संगत था। *नेचरविजनशेट* की बजाय *गेस्टेसविजनशेट* के साथ जो कि रूसी विद्वानों के बीच काफी सम्माननीय परंपरा थी। पावलोव के समय संरचनावाद दरअसल रूस के जीवंत साहित्य व भाषिक परिदृश्य की पहचान बना हुआ था और दूसरा संकेत तंत्र उस के प्रति एक प्रतिक्रिया थी। मुझे 1960 की एक उड़ान याद आती है जिसमें मैं सुप्रसिद्ध रूसी प्रवासी भाषाविद् रोमन जैकोबसन के साथ मास्को से पेरिस जा रहा था। जब मैंने उन्हें पावलोव में आए बदलाव तथा *नोमेनक्लाटुरा* के तहत लगे आरोपों को स्वीकारने के बारे में बताया तो वे हंसकर बोले, “नहीं जेरी! साम्यावादी विचारकों की जरूरत नहीं थी, पावलोव का रूसी होना ही काफी था। एक रूसी विद्वान होने के नाते पावलोव इस विचार के साथ नहीं रह सकता था कि भाषा कोई प्रभाव नहीं डालती और इंसान कुत्तों की तरह सीखते हैं!”

आश्चर्य नहीं कि पावलोव के बाद वायगोत्स्की व सांस्कृतिक सिद्धांत देने वाले विद्वानों ने वह जगह ले ली तथा पावलोव के बहुत से युवा अनुयायियों ने बाद के सालों में बर्लिन के मनोविज्ञान संस्थान में गिस्टौलट मनोविज्ञान का अध्ययन किया।⁵

अमेरिका में संयोजनवाद तथा विन्यासवाद के बीच की प्रतिद्वंद्विता का चरम प्रथम विश्वयुद्ध के पहले के सालों में पहुंचा। कोलंबिया विश्वविद्यालय के टीचर्स कॉलेज के प्रभावशाली थ्रोनडाइक द्वारा पोषित संयोजनवाद अमेरिका में फला फूला। थ्रोनडाइक जर्मनी के संयोजनवाद के एक महत्वपूर्ण केन्द्र में पोस्ट डॉक्टरल स्कॉलर रहे थे। अमेरिका लौटकर उन्होंने अभ्यास व दोहरान को स्कूल में कुशलतापूर्वक सीखने के तरीके के रूप में लोकप्रिय बनाया: इतना

अभ्यास करो व दोहराओ जितना निरर्थक शब्दांशों को याद करने के लिए करते हैं।<sup>6</sup>

किन्तु पावलोव के प्रभाव में अमेरिका में संयोजनवाद शोध कार्यक्रम बहुत जल्द ही बदल गया। अमेरिकी व्यवहारवाद के संस्थापक वॉटसन ने पावलोव को लोकप्रिय बनाया तथा इस बात पर जोर दिया कि सभी तरह का सीखना उत्प्रेरण व प्रतिक्रिया के जरिए होता है। ऐसा करके वॉटसन ने अपने विचारों को अमेरिकी रंगत दे दी। मैं कई बार सोचता हूँ कि क्या वह वॉटसन का अत्यधिक सरलीकरण था जो अंततः अमेरिकी संयोजनवादियों को पावलोव के विचारों की धारा में शोध करने के उत्साह के चरम तक ले गया। यह उनमें शोध की ऊर्जा व दृढ़संकल्प ही था जिसने आधी सदी के लिए अमेरिका को बाद के पावलोव का केन्द्र बना दिया। इस आधी सदी में जिनका प्रभुत्व रहा, वे थे वॉल्टर हंटर, क्लार्क हल, एडवर्ड गुथरे, बी. एफ. स्किनर एवं केनेथ स्पेंस। ये सभी सीखने संबंधी उत्प्रेरण-प्रतिक्रिया सिद्धांत के प्रतिष्ठित व घमंडी विद्वान थे।

बहुत बढ़िया तरीके के रचे गए पशु-प्रयोग ही उनका सबसे बड़ा गुण था। ऐसे प्रयोगों में भूल-भुलैया वाली पहेली में दौड़ना, अंतर करना सीखना आदि शामिल था या स्किनर का बॉक्स तथा इसी तरह के अन्य प्रयोग जो चूहों, कबूतरों या बंदरों पर भी किए गए। स्नातक कर रहे विद्यार्थियों का उपयोग भी किया गया जो मुख्यतः रटत प्रणाली को लेकर था। हार्वर्ड में मेरे स्नातक के दिनों में इसे 'डस्टबाउल इंपीरिसिज्म' कहते थे।

व्यवहारवाद की हर तरह की खोजों का यह परिणाम निकला कि किसी काम को दोहराते रहने व काम को पूरा करने के लिए मिले पुनर्बलन से सीखने वाले का प्रदर्शन बेहतर होता जाता है। निश्चय ही इन खोजों में गहराई थी जैसे प्रयोगों के बीच अंतराल रखने की बजाय बहुत सारे परीक्षण इकट्ठे करके उनके हानिकारक प्रभाव देखना व असंबंधित कारकों में नकारात्मक या सकारात्मक सुदृढ़िकरण करके हस्तक्षेप के असर देखना इत्यादि। किन्तु मेरे हिसाब से रोजमर्रा के सीखने के संदर्भ में इन खोजों का समग्र परिणाम वही था- दोहरान एवं रटना। इस मुद्दे पर मैं बाद में लौटूंगा।

किन्तु यूरोप की तरह एक किस्म का प्रतिविन्यासवाद अमेरिका में भी अस्तित्व में आ रहा था। यह कुछ हद तक उन गिस्टौलट विचारकों से प्रभावित था जो अमेरिका में थे खासकर टोलमैन जो कोहलर के विचारों से सहमति रखते थे तथा लेविन के घनिष्ट मित्र थे जो बर्लिन में गिस्टौलट समूह के नेता बने। इसके अलावा टोलमैन का भाई एक प्रतिष्ठित नाभिकीय भौतिकविद था और उसने टोलमैन को पुगाने हो रहे आणविक विचारों से बचा के रखा था खासकर भौतिकतावादी प्रलोभनों से। टोलमैन आरंभ से ही संज्ञानवादी थे।

टोलमैन की महत्वपूर्ण पुस्तक 1932 में आई और जल्द ही सीखने के प्रचलित सिद्धांतों से असंतुष्ट लोगों के बीच प्रसिद्ध हो गई। उनके विद्यार्थियों खासकर डेविड क्रेश ने भी संयोजनवाद के खिलाफ इस जंग में साथ दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध तक अमेरिका में विन्यासवादियों तथा संयोजनवादियों के बीच खुला टकराव हो चुका था। पहले समूह का मानना था कि सीखना मुख्यतः ज्ञान या जानकारी को व्यवस्थित करने का मामला है जबकि दूसरे समूह का जोर इस बात पर था कि सीखना नीचे से ऊपर की ओर बढ़ना होता है। हिटलर के यूरोप से भागे विन्यासवादी हालांकि काफी कम संख्या में थे लेकिन उन्हें अमेरिकी परिदृश्य में काफी अच्छी तरह से अपनाया गया। कोहलर को हार्वर्ड में विलियम जेम्स व्याख्यान देने के लिए बुलाया गया तथा लेविन तो सामाजिक मनोविज्ञान में लगभग पथप्रदर्शक ही बन गए। गिस्टौलट समूह के इधर-उधर बिखरे सदस्य जल्दी ही अमेरिका के प्रमुख विश्वविद्यालयों में स्थापित हो गए। उन्होंने स्थापित कर दिया कि घटना-क्रिया-विज्ञान (फिनैमिनोलॉजी) रहस्य होने की बजाय सहज-बुद्धि होता है। व्यवहारवादी अमेरिकी मनोविज्ञान की पकड़ अब सीखने को छोटे-छोटे अंशों में देखने की बजाय संदर्भ में समझने के रूप पर बढ़ने लगी।

टोलमैन के शोध को एक उदाहरण के रूप में लेते हैं। उन्होंने यह सिखाया कि सीखना एक तरह से ढांचा बनाने जैसा है और सीखना चीजों को उनकी उपलब्धि की सार्थकता की रोशनी में व्यवस्थित करना है। 1947 में बर्कले के संकाय

को दिए प्रसिद्ध शोध व्याख्यान 'चूहों व मनुष्यों में संज्ञानात्मक ढांचे' में टोलमैन ने यह दावा किया कि क्या चीज प्रभावी है यह जानने के लिए प्रयत्न-त्रुटि (ट्रायल एण्ड ऐरर) विधि बहुत काम की नहीं है। इसके बजाय किसी तरह का समाधान निकालने के लिए अगली-पिछली चीजों को व्यवस्थित करना जरूरी होता है। यही कारण था कि उन्होंने अपने विद्यार्थियों से आग्रह किया कि वे भूल-भुलैया पहेली में चूहों को तेजी से न दौड़ाएं।<sup>7</sup> उनका विश्वास था कि हमारे संज्ञानात्मक ढांचे हमारे हकीकत में हो रहे अनुभवों के आइने भर नहीं होते बल्कि हमारे उन संघर्षों के रिकॉर्ड होते हैं जिनके परिणाम सही सिद्ध हो चुके होते हैं। इस अर्थ में उनका नजरिया मूलतः प्रयोजनवादी (Pragmatist) था शायद इसलिए क्योंकि हार्वर्ड में मनोविज्ञान का विद्यार्थी रहते हुए उनको प्रयोजनवादी दार्शनिकों, खासकर लेविस का सानिध्य मिला। टोलमैन लेविस के बड़े प्रशंसक थे। टोलमैन का अनुकरण करते हुए डेविड क्रेश ने तो यहां तक प्रस्तावित कर दिया कि सीखना परिकल्पना से संचालित होता है न कि केवल निष्क्रिय रूप से जानने से। क्रेश ने प्रदर्शित करने की कोशिश की कि चूहे भी परिकल्पना करते हैं।<sup>8</sup>

टोलमैन की उनके समय के महत्वपूर्ण एवं मौलिक व्यवहारवादी स्किनर से तुलना करें तो बहुत कुछ सामने आता है। स्किनर निश्चित ही प्रभावी प्रतिक्रिया का जबरदस्त ढंग से बचाव कर रहे थे और उतना ही जोर से टोलमैन संज्ञानात्मक ढांचे के सिद्धांत का। उनकी मूल अवधारणा प्रभावी प्रतिक्रिया की थी- यानी ऐसी क्रिया जो आरंभ में वातावरण के किन्हीं खास लक्षणों के सीधे नियंत्रण में नहीं रहती। प्रभावी प्रतिक्रिया का उदाहरण स्किनर के बॉक्स के पहले कबूतर द्वारा उपलब्ध हुआ जो दीवार पर लगे बटन पर चोंच मारता है तो बीज निकलता है। बीज निकलना या न निकलना पुनर्बलन होता है। कोई भी पुनर्बलन फिर से प्रभावी प्रतिक्रिया की संभावना को बढ़ा देता है। संभावना का स्तर इस पर निर्भर करता है कि क्या पुनर्बलन के बाद हर बार प्रतिक्रिया होती है या कभी-कभी। उदाहरण के लिए, अंशतः नियमित पुनर्बलन उम्मीद से ज्यादा प्रतिक्रिया पैदा करता है। हालांकि स्किनर इस तरह के सातत्य की व्याख्या करने को मरीचिका जगाने वाली योजना कहकर मजाक उड़ाते थे। स्किनर के सीधे-साधे शब्दों में सीखना पूरी तरह पुनर्बलन देने के नियंत्रण में होता है। पुनर्बलन केवल सकारात्मक हो सकता है और दंड सीखने को प्रभावित नहीं करता है। इसके बारे में बस यही है और कुछ नहीं, ऐसी स्किनर की मंशा थी। हालांकि कभी-कभी कुछ व्यंग्यात्मक लहजे में स्किनर कहते थे कि सीखने को शायद ही किसी सिद्धांत की जरूरत है।<sup>9</sup>

निश्चित ही सारे व्यवहारवादी स्किनर के सिद्धांत के प्रति तिरस्कार से सहमत नहीं थे बल्कि येल में तो क्लार्क हल ने अपने सिद्धांत को परिष्कृत एवं स्वयंसिद्ध मान्यता के रूप में सविस्तार प्रस्तुत कर दिया था कि सकारात्मक व नकारात्मक पुनर्बलन कैसे निर्मित होते हैं। किसी अनुकूलित उत्प्रेरण को क्या कोई खास बदलाव व्यापक बनाता है और कैसे कोई जीवधारी पुनर्बलन देने वाले का पूर्वानुमान करता है। उनकी पुस्तकें 1943 की *प्रिंसिपल्स ऑफ बिहेवियर* तथा 1952 की श्रेष्ठताबोधक शीर्षक वाली- *ए बिहेवियर सिस्टम-तालिकाओं से सीखने से संबंधित आदर्श वक्रों से तथा उनकी खोजों से मुख्य स्वयंसिद्ध मान्यताओं से जोड़ने वाले अमूर्त सूत्रों से भरी हुई थीं। वह सीखने के बारे में गणितीय मॉडल विकसित करने का पैगंबरनुमा प्रयास था जिसमें एक पीढ़ी बाद के अभिकलनात्मक मनोवैज्ञानिकों को व्यस्त रखा।<sup>10</sup>*

हल व स्किनर के बीच की टकराहटें तथा इन दोनों व टोलमैन के बीच की टकराहटें सीखने संबंधी सिद्धांतों के बीच आखिरी लड़ाई थी। अपने शुद्ध रूप में सीखने संबंधी सिद्धांत 1960 के आसपास खत्म से हो गए हालांकि अभी भी स्किनर के अनुयायी हैं जो पूरी निष्ठा के साथ और एक-दूसरे के लिए अपनी खोजों को प्रकाशित करते रहते हैं। किन्तु मैं टोलमैन या हल के किसी अनुयायी को नहीं जानता।<sup>11</sup>

संज्ञानात्मक क्रांति के कारण या शायद ध्यान कहीं और केंद्रित हो जाने के कारण सीखने संबंधी सिद्धांतों का महत्त्व खत्म हो गया। 1960 के बाद सीखने संबंधी उत्प्रेरण-प्रतिक्रिया सिद्धांत अवरुद्ध हो गया व खुद के प्रति नकारात्मक विचारों से घिर गया प्रतीत होता है। सीखने संबंधी अन्य कणवादी विचार पुनर्भाषित होकर सामान्य संज्ञानात्मक सिद्धांतों में समाहित हो गए जैसे कि न्यूवैल व सिमोन का समस्या समाधान संबंधी सिद्धांत या ब्रूनर, गुडनाउ व

ऑस्टिन का चिंतन संबंधी सिद्धांत। मिलर, ग्लान्टर और प्रिबरेम का नियोजन।<sup>12</sup> 1960 के दशक के अंत तक सीखने को सूचना प्रसंस्करण (information processing) की अवधारणा के रूप में रूपांतरित किया जाना शुरू हो गया था और इसमें यह निहित था कि एक चीज सीखने के मूल लक्षण दूसरी चीज सीखने के मूल लक्षणों से अलग नहीं है। हर चीज एक ही तरह से सीखी जाती है। निश्चित ही पुराना संघर्ष खत्म हो चुका था और उतने ही दिलचस्प तरीके से चूहों की पुरानी प्रयोगशालाएं और उनकी भूल-भुलैया पहेलियां गायब हो गईं।

जब मैं परिवर्तन के इस दौर पर मंथन करता हूं तो मुझे लगता है कि यह भाषा का अध्ययन था खासकर भाषा अर्जन का जो सीखने संबंधी सिद्धांतों के पतन का कारण बना। भाषा का प्रयोग और इसका अर्जन सीखने संबंधी खंड-खंड-उत्प्रेरण-प्रतिक्रिया सिद्धांत की पहुंच से दूर की चीज थी। भाषा को इस सिद्धांत की जद में लाने के प्रयास शीघ्र ही निरर्थक साबित हो गए और ज्यादातर भाषाविदों ने इन प्रयासों को नकार दिया।

समकालीन भाषाविदों ने सीखने संबंधी संयोजनवादी सिद्धांत की जो आलोचना की उसकी शुरुआत चौम्स्की द्वारा स्किनर की *वर्बल बिहेवियर* किताब पर लिखी आक्रामक समीक्षा से हुई।<sup>13</sup> किन्तु इसने समस्या समाधान पर जोर देने वाला जो मॉडल खोजा था वह अब भाषा के सरोकार से परे जा चुका था। अब तक लोग पूछने लगे थे कि क्या सांस्कृतिक कोड भी भाषा की तरह ही सीखे जाते हैं। न ही मनो-भाषाविद् और न ही सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक सीखने के बारे में अब पुराने सिद्धांतों की छाया में सोचते हैं।

मुझे लगता है कि यह कहना सही रहेगा कि इस रिहाई के दौर में पिछली किसी भी सदी की अपेक्षा हाल के इन तीन दशकों के दौरान भाषा अर्जन के बारे में सबसे ज्यादा जाना गया है। दरअसल, तीनों दशकों को मिला दें तो बहुत ही ज्यादा जाना गया है। यह याद रखना भी जरूरी है कि शोधों की जिस बाढ़ ने इसे संभव बनाया उसे भाषाविद् चौम्स्की ने जन्म दिया न कि किसी सीखने संबंधी विचारक ने।

भाषा की तरफ हुए इस रुख ने सीखने संबंधी शोध को पुराने कृत्रिम प्रयोग आधारित तरीकों से दूर कर दिया। मैं एक उदाहरण लेता हूं। यह भविष्यवाणी कि बहुत छोटे बच्चे अपनी मूल भाषा के ढांचे से इतनी जल्दी सामंजस्य बना लेते हैं कि वे इसके ध्वनि संबंधी भेदों को माता-पिता की बातचीत में पकड़ने लगते हैं जबकि वे भाषा को ठीक तरह से बोलना सीख नहीं पाए होते हैं। यह एक ऐसी भविष्यवाणी है जो भाषा विज्ञान एवं विकास संबंधी सिद्धांतों से विकसित हुई है। आप इसे अपने संदर्भ में सीधे जांच सकते हैं, इस बात पर गौर फरमाकर कि क्या बच्चे के तुतलाने में पराई भाषा की ध्वनियां ज्यादा हैं या मूल भाषा की। यही तो होता है: फ्रांसीसी बच्चे फ्रांसीसी में तुतलाते हैं और जापानी बच्चे जापानी में। ऐसे प्रयोग किसी संदर्भ विशेष में किए जाने चाहिए न कि किसी भूल-भुलैया में। बिना किसी ताम-झाम के पता चलना चाहिए कि प्रयोग के नतीजे वास्तविक जीवन में हकीकत में सीखने से कोई संबंध रखते हैं कि नहीं।

तो क्या हम यह नतीजा निकाल लें कि सीखने संबंधी संयोजनवादी व विन्यासवादी सिद्धांतों के बीच के द्वंद्व से तीन चौथाई सदी में सीखने की वास्तविक प्रवृत्ति के बारे में बहुत कम या कुछ भी नहीं सिखाया। ऐसा मानना बहुत बड़ी भूल होगी।

पावलोव के कुत्ते व कोहलर के चिंपांजी दोनों ने ही बहुत कुछ सीखा लेकिन भिन्न तरीकों से व भिन्न परिस्थितियों में। इस दावे के हमारे पास पर्याप्त कारण हैं कि उनमें से किसी की भी पद्धति को दूसरे की पद्धति में नहीं बदला जा सकता। शायद अगले चरण में हम यह जानेंगे कि उन्हें साथ-साथ कैसे रखा जा सकता है। मैं एक चीज के बारे में आश्वस्त हूँ कि आप सीखने की प्रक्रिया को सीखी जा रही विषयवस्तु से अलग नहीं कर सकते और न ही संदर्भ के बिना उसका अध्ययन कर सकते हैं। सीखना हमेशा ही परिस्थितिजन्य होता है और चल रहे क्रिया-कलापों में अवस्थित होता है। सामान्य रूप से सीखने के नियम जैसी कोई चीज नहीं होती और शायद यही है जो हम पावलोव के कुत्ते, कोहलर के चिंपांजियों से एवं पावलोव-कोहलर मतभेदों से सीख सकते हैं। ♦

## संदर्भ

1. वोल्फगैंग कोहलर, द मेंटैलिटी ऑफ एप्स (न्यूयार्क : हारकोर्ट प्रेस, 1926) 1917 में यह मूल रूप में जर्मनी में प्रकाशित हुई थी।
2. गुस्ताव फ्रिच व एडवर्ड हिट्टजिह का क्लासिक आलेख “यूबेर डाई इलेक्ट्रिस्वे एरिग बरखेंत डेस ग्रोशिन्स,” आर्चिव डेर एनाटोमी अंड फिज़िओलोजी (1870) : 300-332
3. एबिंगहौस का 1885 का क्लासिक अंग्रेजी में केवल संक्षिप्त में ही उपलब्ध है किन्तु मुख्य अंश वेनी डेनिस की रीडिंग इन दी हिस्ट्री ऑफ साइकॉलोजी (न्यूयार्क : एप्पलेटोन-सेंचुरी-क्रॉट्स 1948), 304-313 में खोजे जा सकते हैं। यह काफी दिलचस्प है कि एबिंगहौस का मूल मोनोग्राफ अपने पूरे अंग्रेजी अनुवाद के साथ 1913 में कोलंबिया विश्वविद्यालय के टीचर्स कॉलेज ने छापा था जिस समय अमेरिका की शिक्षा में रटाई आधारित सीखने का वर्चस्व था। इसे आउट ऑफ प्रिंट हुए अब काफी समय हो चुका है।
4. कोहलर के दार्शनिक विमर्श के लिए देखें मैरी हेनले द्वारा संपादित, दी सलेक्टेड पेपर्स ऑफ वोल्फगैंग कोहलर (न्यूयार्क: लिवराइट, 1971)। संभवतया गैस्टाल्ट मनोविज्ञान की अनुभववादी उपलब्धियों का सबसे बेहतर व सबसे सुलभ दस्तावेज कुर्ट कॉफका (ज्यादातर हिटलर की सत्ता के उदय से पूर्व) की प्रिंसिपल ऑफ गैस्टाल्ट साइकॉलोजी (न्यूयार्क : हारकोर्ट ब्रेस, 1935) है।
5. लेव वायगॉत्स्की, थोट एंड लैंग्वेज (केंब्रिज, मैसाचुसेट विश्वविद्यालय : एम.आई.टी. प्रेस, 1962); एलेक्जेंडर रोमानोविच लूरिया, दी रोल ऑफ स्पीच इन दी रैगुलेशन ऑफ नॉर्मल एंड एबनॉर्मल बिहेवियर (न्यूयॉर्क)
6. एडवर्ड एल. थोर्नडाइक की क्लासिक रचना एज्युकेशनल साइकॉलोजी, तीन वॉल्यूम में है, यह 1913-1914 में आई।
7. टोलमैन की सबसे प्रभावशाली पुस्तक पर्पज़िव बिहेवियर इन एनिमल्स एंड मैन (न्यूयॉर्क : सेंचुरी, 1932) है। अपने बर्कले व्याख्यान को उन्होंने बाद में इंटरनेशनल कांग्रेस के संबोधन में और विस्तार दिया।
8. क्रेंच का महत्वपूर्ण अध्ययन आई. क्रेंचेवस्की (अपने मूल नाम से लिखा गया) है, “हाइपोथिसिस’ वर्सेज़ ‘चान्स’ इन दी प्रिसोल्त्यूशन पीरियड इन डिस्क्रिमिनेशन लर्निंग”, यूनिवर्सिटी ऑफ केलीफोर्निया पब्लिकेशन इन साइकॉलोजी 6 (1932) : 27-44।
9. बी.एफ. स्किनर, “आर थ्योरीज़ ऑफ लर्निंग नेसेसरी?” फिलोसोफिकल रिव्यू 57 (1950): 193-216।
10. कार्ल एल. हल, प्रिंसिपल ऑफ बिहेवियर (न्यूयॉर्क : एप्पलेटोन-सेंचुरी-क्रॉट्स, 1942) एंड ए बिहेवियर सिस्टम : एन इंट्रोडक्शन टू बिहेवियर थ्योरी कन्सर्निंग दी इंडिविज्युअल ऑर्गेनिज़्म (न्यूयॉर्क हैवन, : येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1952)।
11. क्लासिकल लर्निंग सिद्धांतों पर सबसे विस्तृत व प्रामाणिक वोल्यूम अर्नेस्ट आर. हिलगार्ड की थ्योरीज़ ऑफ लर्निंग, द्वितीय संस्करण है (न्यूयॉर्क : एप्पलेटोन-सेंचुरी- क्रॉट्स, 1956) है।
12. ऐलेन न्यूवैल व हर्बर्ट ए. सिमोन ह्यूमन प्रोब्लम सोल्विंग (एंगलवुड, एन.जे. : प्रेंटिस हॉल, 1972); जेरोम ब्रूनर, जैकलीन गुडनाउ व जोर्ज ए. ऑस्टिन, ए स्टडी ऑफ थिंकिंग (न्यूयॉर्क : विले, 1956); जोर्ज ए मिलर, यूज़ेन गलेंटर व कार्ल प्राइबैम, प्लॉन्स एंड दी स्ट्रक्चर ऑफ बिहेवियर (न्यूयॉर्क : होल्ट, रिनहर्ट, व विन्सटन 1960)।
13. बी.एफ. स्किनर, वर्बल बिहेवियर (केंब्रिज मैसाचुसेट : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1947)। चोम्स्की की स्ट्रक्चरलिस्ट-मेंटैलिस्ट व्यू सबसे पहले उनकी सिंटेक्टिक स्ट्रक्चर में प्रकाशित हुई थी (दी ह्यूज़ : माउटन, 1957), स्किनर पर उनका पहला सीधा आक्रमण वर्बल बिहेवियर (इन लैंग्वेज 35 (1959) : 26-34) दो साल बाद हालांकि एक अवधारणात्मक आश्चर्य के रूप में किन्तु बड़े अप्रत्याशित ढंग से आई।